

इक्कीसवीं सदी का मानव— संकट और समग्र मनुष्य की भवितव्यता

सारांश

संसार की निःसारता उसके क्षणिक एवं अस्थायी सुखों में निहित दुख में विद्यमान है। संसार में भौतिक एवं दैविक दुख के साथ – साथ आध्यात्मिक दुख भी है जो मनुष्य में उसके अपने स्वरूप के प्रति अनभिज्ञता से उत्पन्न होता है। इतनी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के बाद भी मनुष्य अपने स्वरूप, जीवन के अर्थ, और उद्देश्य को लेकर सर्वाधिक अनभिज्ञ है। वर्तमान समय का यही वह मानव संकट है जिससे मनुष्य जूझ रहा है। अपने स्वरूप की अनभिज्ञता हमें ना केवल व्यक्तिगत रूप से दुख देती है बल्कि सार्वजनिक रूप से भी मनुष्यों एवं सृष्टि के साथ हमारे तालमेल में असंतुलन उत्पन्न करती है और यही असंतुलन वर्तमान मनुष्य एवं जगत की सबसे बड़ी समस्या है। इसी आध्यात्मिक दुख, इससे उपजे प्रश्न और समस्याओं का निराकरण श्रीअरविन्द दर्शन के परिप्रेक्ष्य में करने का प्रयास प्रस्तुत आलेख में किया जायेगा।

मुख्य शब्द : क्षणिक, अस्थायी, भौतिक एवं दैविक दुख, जीवन का अर्थ, जीवन का उद्देश्य, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, श्रीअरविन्द, उच्चतम शुभ, तार्किक बुद्धि, निरीश्वरवादी अहंभाव, चिन्ताओं का युग, सांस्कृतिक मूल्यों से च्युत, परम्परा, आंतरिक जीवन, इक्कीसवीं सदी, समग्र मनुष्य, सामंजस्य, भवितव्यता, तार्किकता।

प्रस्तावना

वृहत् संसार में मनुष्य का चिन्तन जब उसके अस्तित्व और उसकी सत्ता के रहस्य एवं अर्थ के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है तब मनुष्य इससे जुड़े प्रश्नों को लेकर सर्वाधिक असहाय और निरुत्तर हो जाता है। मैं कौन हूँ? मेरे जीवन का क्या अर्थ है? इस जीवन का क्या रहस्य है? ये प्रश्न किसी भी संवेदनशील मानव मन को कभी ना कभी अवश्य उद्वेलित करते हैं।

समस्या एवं अध्ययन का उद्देश्य

दर्शन एवं विज्ञान दोनों ही दृष्टियों से मानव जीवन की पहचान, उसके अर्थ एवं उद्देश्य की खोज ही आज के युग की सबसे बड़ी चुनौती है। प्रस्तुत लेख इस चुनौती एवं इससे जुड़े प्रश्नों पर केन्द्रित है। श्रीअरविन्द कृत सावित्रो महाकाव्य में देखा जा सकता है—

“O Force –compelled, fate driven earth born race,
O petty adventures in an infinite world
And prisoners of a dwarf humanity,
How long will you tread the circling tracks of mind?
Around your little self and petty things ?
But not for changeless and littleness were you meant,
Nor for vain repetition were you built.
Almighty powers are shut in natures shell,
A greater destiny awaits you in your front
The life you lead conceals the light you are.”¹

मानव मन की यह उत्कंठा अथवा बेचैनी उस आदर्श की ओर संकेत करती है जिसे वह प्राप्त करना चाहता है।² किन्तु वह आदर्श क्या है इसके प्रति वह अनभिज्ञ है। पुनः श्रीअरविन्द के शब्दों में—

“पशु थोड़ी सी आवश्यकताओं की पूर्ति से संतुष्ट रहता है, देवता अपने वैभव से संतुष्ट रहते हैं, किन्तु मनुष्य तब तक स्थायी रूप से विश्राम नहीं कर सकता जब तक कि वह किसी उच्चतम शुभ तक ना पहुँच जाए। वह प्राणियों में सबसे महान है क्योंकि वही सबसे अधिक असंतुष्ट है। वही बन्धनों का दबाव सबसे अधिक अनुभव करता है। कदाचित वही एक ऐसा है जो किसी सुदूर आदर्श के लिये दिव्य उन्माद द्वारा अधिग्रहोत किये जाने में सक्षम है।”³

मनुष्य प्रकृति का हिस्सा है उसकी सुन्दर बनावट का एक महत्वपूर्ण पक्ष है अतः प्रकृति के साथ अपने सम्बन्ध और तालमेल को समझना आवश्यक



नन्दिनी सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर,
दर्शनशास्त्र विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

है। विश्व में औद्योगिक क्रान्ति के बाद से ही यह समझा जा सकता है कि एक तर्क प्रधान जीवन दृष्टि विकसित होती गई जो आस्था को कम और तार्किकता को अधिक महत्व देती है। मनुष्य ने बुद्धि और उसके तर्कों को ही सबकुछ मानकर ऐसे सिद्धान्तों पर चलना आरम्भ कर दिया जो उसकी बुद्धि को तो तुष्ट करते हैं उसे आंतरिक रूप से और भी अतृप्त एवं असन्तुष्ट करते जा रहे हैं। वर्तमान में वे सभी तत्व जो आज के मनुष्य को शासित कर रहे हैं यथा बुद्धि, तर्क, विज्ञान क्या इनके पास वर्तमान मनुष्य के जीवन की समस्याओं का समाधान है? यह एक विकट प्रश्न है क्योंकि कहीं ना कहीं इसी तार्किक बुद्धि और वैज्ञानिक गवेषणा ने हमारे चिन्तन को कहीं ना कहीं इस रूप में ढाल दिया है कि हम जीवन की समस्याओं के समाधान में सीमित परिधियों से बाहर नहीं आ पाते। इन सीमाओं की ओर संकेत करते हुए श्रीअरविन्द कहते हैं—

“विज्ञान ने अपने नीरस और एक रसमार्ग का अनुसरण करते हुये कुछ ऐसे अन्वेषण किये हैं जिन्होंने एक ओर तो व्यवहारिक मानव हितवाद को प्रोत्साहन दिया है और दूसरी ओर अहंभाव को परस्पर संहार और दानवी शस्त्र दिये हैं। इसने एक ओर तो महान बुद्धिवादी एवं परोपकारवादी मानव हितवाद को जन्म दिया है तथा दूसरी तरफ एक नीरीश्वरवादी अहंभाव, प्राणवाद एवं शक्ति और सफलता प्राप्त करने की असंस्कृत इच्छा को भी उचित ठहराया है।”⁴

इसी प्रकार तर्कबुद्धि की सीमाओं की ओर संकेत करते हुये वे कहते हैं कि “तर्क बुद्धि अपने स्वभाव से ही एक अपूर्ण प्रकाश है। इसका कर्तव्य बड़ा है, पर है सीमित।”⁵

प्रतिस्पर्धा, अकृत धन की लालसा, सुविधायुक्त जीवन कुछ ऐसे ही सिद्धान्त हैं। विडम्बना यह है कि धर्म, शिक्षा आदि जिन माध्यमों से हम मनुष्य बनना सीख सकते थे वहाँ भी स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं है। शिक्षा आज व्यवसाय या नौकरी दिलाने के साधन के रूप में अपेक्षित रह गई है और धर्म आज राजनीति एवं अहंकेन्द्रित सत्ता स्थापित करने का माध्यम बन चुका है। जीवन क्या है? उसमें भी मानव जीवन क्या है? उसका अर्थ, उद्देश्य एवं सृष्टि और समाज के विकास में उसकी क्या भूमिका हो सकती है जैसे प्रश्न हमारे लिये अनुत्तरित ही हैं।

पुनः ना केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि वैश्विक स्तर पर भी दिखाई देने वाला आपसी वैमनस्य और भौतिक प्रतिस्पर्धा के विषय में भी श्रीअरविन्द स्पष्ट रूप से कहते हैं कि किसी एक मनुष्य द्वारा दूसरों पर शासन अथवा किसी वर्ग विशेष के द्वारा दूसरे वर्गों का दमन कभी भी प्रकृति का लक्ष्य नहीं हो सकता। अपनी समृद्ध संस्कृति और अनेकानेक उपलब्धियों के बाद भी भारत के अपेक्षाकृत कम विकसित होने का बहुत बड़ा कारण इस तरह के दमन और शोषण की नीति रही है, उन्हीं के शब्दों में.....कुलीन जातियों ने राष्ट्र के बड़े भाग को यथासम्भव अपने स्तर पर लाना अन्तिम रूप अस्वीकार कर दिया है, अपने और समाज के शेष भाग में कभी न

पट सकने वाली खाई खोद ली, उनके अन्तिम हास और अधःपतन का यही कारण था।”⁶

श्रीअरविन्द का मानना है कि “मनुष्य जीवन में बहुतों का कुछ के द्वारा या कुछ का बहुतों के द्वारा शोषण प्रकृति का अन्तिम उद्देश्य नहीं है।”⁷ अतः जब भी मनुष्य प्रकृति के नियम ‘मानव एकत्व की प्राप्ति’ के विपरीत जाने का प्रयास करेगा प्रकृति अपने ही प्रयासों से हस्तक्षेप करेगी।

पुनः हम मनुष्य के अस्तित्व के आंतरिक पक्ष को सहज ही ना तो स्वीकार करते हैं और ना ही उसे समझने की चेष्टा करते हैं शांति, सुख तथा सामंजस्य के लिये हमारे सारे प्रयास बहिर्मुखी हैं। आंतरिक जीवन को समझने और सीचने का ना तो हमारा कोई प्रयास है और ना ही कोई रुचि। जीवन में केवल उपादेयता की परिभाषा ही अर्थपूर्ण रह गई है।

मनुष्य की यह असहायता ही सम्भवतः इस युग में उसके लिये सबसे बड़ी चुनौती है। इस युग का मनुष्य विश्वास की क्षति से ग्रस्त है। वह सहज ही न तो अन्धों पर औना ही स्वयं पर विश्वास करता है। वह शंकाओं से घिरा हुआ है। स्वयं के साथ, परिवार, समाज, देश और विश्व के साथ उसके सम्बन्धों में अनुचित तालमेल है। वह आंतरिक रूप से विखण्डित है, अपनी सत्ता के विभिन्न स्तरों पर बिखरा हुआ है। मनुष्य जो कहीं सांस्कृतिक रूप से विस्थापित है, कहीं पुराने मूल्यों से च्युत है, कहीं परम्पराओं से बिछड़ा हुआ है वह स्वयं को असुरक्षित और भ्रमित अनुभव करता है। इक्कीसवीं सदी का मानव वैज्ञानिक और तकनीकी रूप से कितनी भी ऊँचाई पर क्यों ना पहुँच गया हो किन्तु वह जानता है कि कहीं ना कहीं अपनी उपलब्धियों में भी वास्तविक संतुष्टि नहीं है; कुछ है जो अभी भी अप्राप्त है और जिसे प्राप्त करने के लिये वह निरन्तर व्याकुल है। सम्भवतः इसी कारण वर्तमान युग को ‘चिन्ताओं का युग’ (The age of anxiety) कहा जाता है

साहित्यावलोकन

यह लेख श्रीअरविन्द की मूल पुस्तकों के अध्ययन पर आधारित है। विशेष रूप से ‘दिव्य जीवन’ ‘सावित्री’ और ‘मानव एकता का आदर्श’ श्रीअरविन्द विरचित इन तीन पुस्तकों पर मेरा अध्ययन आधारित है। इसके अतिरिक्त जुगल किशोर मुखर्जी कृत From man Human to Man Divine, रिचर्ड हर्टज़ कृत The Clasp of Civilizations, एवं श्याम रगुनाथन कृत Ethics and the History of Indian Philosophy पुस्तकों के सर्वेक्षण को भी मैंने अपने अध्ययन का आधार बनाया है। From man Human to Man Divine पुस्तक मुख्य रूप से श्रीअरविन्द दर्शन के परिप्रेक्ष्य में, मनुष्य से दिव्य मनुष्य बनने की अवश्यमभाविता पर बल देती है। The Clasp of Civilizations में रिचर्ड हर्टज़ ने विविध संस्कृतियों के मध्य विकसित होती वैश्विक चेतना पर बल दिया है और श्याम रगुनाथन जी ने Ethics and the History of Indian Philosophy में भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में धर्म के स्वरूप को भी अन्ततः समग्र मनुष्य और मानव एकत्व के अर्थ में ग्रहण किया है।

प्रत्यय

इस लेख में समग्र एवं पूर्ण मनुष्य के प्रत्ययों के आधार पर यह प्रस्तावित करने का प्रयास किया गया है कि मनुष्य अपने जीवन के अर्थ, उद्देश्य और स्वरूप की पहचान करके ही वर्तमान युग के मानव संकट और समस्याओं से बाहर आ सकता है। यहाँ प्रश्न यह है कि एक भ्रमित और व्यथित मनुष्य जब दर्शन की ओर देखता है तब उसे क्या मार्ग दिखता है या दिखाया जा सकता है? यहाँ हमें समझना होगा कि मनुष्य की सत्ता का स्वरूप क्या है, तभी एक भ्रमित मनुष्य से समग्र मनुष्य बनने की यात्रा पूरी की जा सकती है।

वस्तुतः मनुष्य को सत्ता के अनेक पक्ष हैं। वह प्रकृति का अंग है, भौतिक जगत का हिस्सा है, वह जैविक स्तर पर भी अस्तित्व रखता है वह समाज का भी अंश है वह एक ऐसे तंत्र का सदस्य है जो सही और गलत नियमों के अनुरूप कर्तव्यों का निर्धारण और अनुपालन करे हैं अतः सम्भव है कोई ऐसा क्षेत्र भी हो जहाँ तक उसकी सत्ता और चेतना का विस्तार तो है किन्तु वह स्वयं उससे अनभिज्ञ है। अतः मनुष्य की सत्ता के बहुआयामी पक्षों में सन्तुलन द्वारा ही उसके पूर्ण मनुष्य बनने का रहस्य छिपा है। यदि मनुष्य स्वयं में और अपने आस पास सामंजस्य एवं शांति की खोज कर रहा है तो ऐसा करने के लिये उसे अपनी सत्ता को उसकी समग्रता में ग्रहण करना होगा। ऐसा करने में कई बार हमारे बौद्धिक प्रयास हमें दो एकपक्षीय मार्गों में से किसी एक की ओर प्रेरित करते हैं— या तो हम विज्ञान की उँगली पकड़कर भौतिकवाद के किसी ना किसी चश्मे से संसार और जीवन के रहस्यों को समझने की चेष्टा करते हैं अथवा निरपेक्ष विज्ञानवाद या आध्यात्मिक दृष्टि से संसार और जीवन को समझने की चेष्टा करते हैं।

किन्तु ये दोनों ही प्रयास ना केवल एकपक्षीय हैं बल्कि एक की स्थापना दूसरे के निराकरण पर आधारित है। ऐसे में आध्यात्मवाद मनुष्य के भौतिक जीवन को तुच्छ और महत्वहीन सिद्ध करने का प्रयास करता है तथा भौतिकवाद मनुष्य की चेतना के आत्मिक पक्ष को रहस्य एवं उपहास का विषय बना देता है। ऐसे में एक समग्र मनुष्य का भ्रमित, उद्वेलित और व्याकुल होना स्वाभाविक ही है क्योंकि भौतिक जगत और आध्यात्मिक जगत दोनों ही मनुष्य का सत् है। एक ही चेतना के विस्तार के दो छोर पर मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन विद्यमान है। इनमें से किसी भी एक की उपेक्षा से मनुष्य की अकुलाहट को समझना एक स्वाभाविक बात है।

भाषा-विधि

इस शोध की विधि विवेचनात्मक एवं समीक्षात्मक है। मानविकी के विषयों के अनुरूप समस्या के विवेचनोपरान्त उसका विश्लेषण एवं समीक्षा करते हुये निष्कर्षात्मक टिप्पणी दी गई है।

प्राप्ति

जब तक हम तत्व को उसकी समग्रता में नहीं जान या मान लेते तब तक सृष्टि के तंत्र में मनुष्य के समग्र स्वरूप, उसकी भूमिका और उसके महत्व को हम नहीं जान सकेंगे। इसके अभाव में ही मनुष्य का प्रकृति से, मनुष्य का समाज एवं परिवार से तथा मनुष्य का स्वयं से सम्बन्ध बिखरा हुआ है। श्रीअरविन्द के शब्दों में "अस्तित्व की सारी समस्या मूलतः सामंजस्य की समस्या है।"⁸

यह सामंजस्य हम बाहर ढूँढ उसके पहले हमें स्वयं में ढूँढना होगा। मनुष्य की सत्ता के सभी स्तर जब एक ही प्रकाश, एक ही सत् की ओर अभिप्रेरित होंगे तभी वास्तविक सामंजस्य स्थापित हो सकेगा है और इसी से एक वैश्व चेतना में विकास सम्भव है। यह चेतना हमें विश्व समुदाय को एक परिवार की तरह देखने के लिये प्रेरित करती है।⁹ यही भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म¹⁰ की भी शिक्षा है। अभी हमारे भैतिक जीवन की प्रेरणा कुछ और है, प्राणिक सत्ता की प्रेरणा कुछ और है, मानसिक सत्ता की प्रेरणा कुछ और है तथा आंतरिक जीवन, जिसके प्रति हम सचेतन भी नहीं ह की प्रेरणा कुछ और है। मनुष्य इन सबके बीच तालमेल के अभाव में भ्रमित है।

निष्कर्ष

भारतीय दार्शनिक जीवन दृष्टि हमें सदैव यह बोध कराती रही है कि हम एक ऐसी सृष्टि का हिस्सा हैं जिसका प्रत्येक कण अर्थपूर्ण एवं उद्देश्यपरक है —

A blind God is not Destiny's architect
A conscious power has drawn the plan of life
There is a meaning in each curve and line.¹¹

अतः हमारे जीवन में वह दिव्यता, प्रकाश, आनन्द और सामंजस्य निगूढ़ है जिसके प्रति हम सर्वाधिक अनभिज्ञ हैं। जब हम इस आध्यात्मिक मूल्य को शिक्षा, धर्म और जीवन में स्वीकार करेंगे तभी एक व्यथित मनुष्य का समग्र मनुष्य में रूपान्तरण सम्भव हो सकेगा।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. Sri Aurobindo, Savitri, Sri Aurobindo Ashram Pondicherry, 1972, p.370
2. "Nor can the ideal of human life be simply the animal repeated on a higher scale of mentality." - Mukherjee Jugal Kishore, From man Human to Man Divine, Sri Aurobindo International centre of Education, Pondicherry, 1990, p.23
3. Sri Aurobindo, CWSA, Vol. 13, 1972, p. 200
4. Ibid, Vol.21, 1972, p.51
5. श्रीअरविन्द, मानव-चक्र, श्रीअरविन्द आश्रम पॉण्डीचेरी, 1995 पृ.सं. 115-116
6. "Privileged classes to call up the bulk of the nation as far as possible to their level, their fishing of an unbridgeable gulf of superiority between themselves and the rest of society, has been a main cause of eventual decline and degeneracy." Ibid, p. 270
7. "For the final aim of Nature in human life cannot be the exploitation of the many by the few or even of the few by the many." Ibid p. 267
8. "All problems of existence are essentially problems of harmony." Okghj i'flañ116
9. "The growing awareness of the earth as a finite globe and its human occupants as a single community, however diverse and divided, may be called the globalisation of consciousness." - Hartz Richard, The Clasp of Civilizations, Nalanda International, Los Angeles(USA), 2015, p.32
10. द्रष्टव्य, Ranganathan Shyam, Ethics and the History of Indian Philosophy, Motilal Banarsidas Publishers, New Delhi, 2017, p.13-32
11. Sri Aurobindo, Savitri, Sri Aurobindo Ashram Pondicherry, 1972, p.372